भारतीय ज्ञान परंपरा

संस्कृति, दर्शन, शैक्षिक विचारधाराएँ और नवाचार

सम्पादक :
डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

भारतीय ज्ञान परंपरा :
संस्कृति, दर्शन, शिक्षा विचारधाराएँ और नवाचार

सम्पादक :

डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

Ph.D., D.Lit. (Sub.)

निदेशक, कॉम्पिटिशन प्लस ग्रुप ऑफ इन्स्टीट्यूशन,
अजमेर

छवि पब्लिकेशन्स

अजमेर-305001

प्रकाशक :
छवि पब्लिकेशन्स
अजमेर-305001
मो. 9660111549

संस्करण :
प्रथम 2022-2023

ISBN : 978 - 81 - 89435 - 64 - 6

मूल्य - 300/-

रचना - भारतीय ज्ञान परम्परा में शिक्षा के समाजशास्त्रीय आधार

सम्पादक - डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

मुद्रक - श्रीनिवास प्रिन्टोग्राफिक्स, अजमेर

31. अर्थशास्त्र और भारतीय ज्ञान परम्परा

यदुनन्दन शर्मा
सहायक आचार्य (शिक्षा विभाग)
हुकुमचन्द नोबेल इंस्टीट्यूट ऑफ साईंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

वेद अपौरुषेय हैं — अर्थात् वे किसी मानव द्वारा रचित नहीं, बल्कि ईश्वरप्रदत्त ज्ञान हैं। मनुष्य को अपूर्णता से पूर्णता की ओर ले जाना, उसके जीवन में सुख–सुविधा और समृद्धि का संवर्धन करना विद्या के प्रमुख उद्देश्यों में से एक है। मानव जीवन अनेक प्रकार के अभावों से ग्रस्त रहता है, जिनमें भौतिक अभाव विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये अभाव कभी अन्न, वस्त्र या निवास के रूप में सामने आते हैं। इन अभावों की पूर्ति हेतु जो व्यवस्था निर्मित होती है, वही अर्थव्यवस्था या अर्थशास्त्र कहलाती है। आधुनिक अर्थशास्त्र का मुख्य उद्देश्य इन भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु संसाधनों का नियोजन करना है। मनुष्य की इच्छाएँ और आवश्यकताएँ अनंत हैं, एक पूरी होते ही दूसरी उत्पन्न होती है जबकि साधन सदैव सीमित रहते हैं। अतः सीमित साधनों द्वारा अधिक से अधिक आवश्यकताओं की पूतिज़ करना ही आधुनिक अर्थव्यवस्था का मूल उद्देश्य बन गया है। किन्तु वैदिक अर्थव्यवस्था और आधुनिक अर्थव्यवस्था के बीच एक मौलिक अंतर निहित है। आधुनिक अर्थशास्त्र अभावों की पूर्ति में आध्यात्मिकता का स्थान नहीं देता; उसका लक्ष्य केवल भौतिक सम्पन्नता तक सीमित है। उसमें नैतिक या चारित्रिक उन्नयन के लिए किसी विशेष व्यवस्था की कल्पना नहीं की गई।

इसके विपरीत, वैदिक अर्थव्यवस्था का आधार केवल धन–संपत्ति की वृद्धि या अभावों के दूरीकरण तक सीमित नहीं है। वैदिक विचार के अनुसार मानव जीवन का परम उद्देश्य केवल भोग या भौतिक समृद्धि नहीं, बल्कि मोक्ष आत्मिक मुक्ति है। 'भोगापवर्गार्थं दृष्टम्' (अर्थात् जीवन भोग और अपवर्ग [मोक्ष] दोनों के लिए है) यह वैदिक वाक्य जीवन के इसी द्वैतिक उद्देश्य को प्रतिपादित करता है।

इस प्रकार, वैदिक अर्थशास्त्र का केंद्र धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष — इन चार पुरुषार्थों की समन्वित साधना है। जहाँ आधुनिक अर्थव्यवस्था केवल भौतिक अभावों की पूर्ति तक सीमित रहती है, वहीं वैदिक अर्थव्यवस्था मनुष्य को भौतिक सम्पन्नता के साथ–साथ आध्यात्मिक उन्नति की दिशा में भी प्रेरित करती है।

यह संसार भोग के लिए है, और भोग की व्यवस्था के लिए ही इसमें विविध

साधन और व्यवस्थाएँ निर्मित की गई हैं। किन्तु वैदिक दृष्टिकोण के अनुसार भोग अपने-आप में जीवन का उद्देश्य नहीं है। भोग का महत्व तभी है, जब वह मोक्ष — अर्थात् आत्मिक उन्नति और अंतिम मुक्ति का सहयोगी बन सके। इसीलिए वैदिक अर्थव्यवस्था का मूल आधार है — 'पुरुषार्थ चतुष्टय' की सिद्धि। मनुष्य जीवन के चार पुरुषार्थ — धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की समन्वित प्राप्ति ही वैदिक जीवन-दर्शन का सार है। अर्थ की आवश्यकता धर्म की मर्यादा में रहकर, काम की पूर्ति के माध्यम से मोक्ष की दिशा में अग्रसर होने के लिए है।

वैदिक परम्परा का यह सुनिश्चित सिद्धांत प्राचीन काल से ही मान्य रहा है कि —

'अर्थशास्त्रात्तु बलवद्धर्मशास्त्रम्।' अर्थात् धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र से अधिक बलवान है।

इसका तात्पर्य यह है कि अर्थशास्त्र की समस्त व्यवस्थाएँ धर्मशास्त्र के सिद्धांतों के अनुरूप होंगी। धन-संपादन और आथिज़्क नीतियों का संचालन धमज़् के अधीन रहेगा, क्योंकि धमज़् ही वह आधार है जो अथज़् को शुद्ध, न्यायसंगत और लोकहितकारी दिशा देता है।

इस प्रकार, पुरुषार्थ चतुष्टय का पारस्परिक समन्वय — विशेषकर काम और मोक्ष का संतुलन समस्त सामाजिक और आर्थिक व्यवस्थाओं का मूलाधार है। अर्थशास्त्र भी उसी व्यापक सामाजिक-आध्यात्मिक प्रणाली का अभिन्न अंग है, जिसका उद्देश्य केवल भौतिक सम्पन्नता नहीं, बल्कि धर्म-सम्मत, न्यायपूर्ण और मोक्षमार्ग का सहयोगी जीवन-निर्माण है।

यहाँ एक तथ्य विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि संस्कृत में 'अर्थशास्त्र' का अर्थ आधुनिक Economics के समान नहीं है। वैदिक और शास्त्रीय परंपरा में 'अर्थशास्त्र' का सामान्य तात्पर्य है —

'पृथिव्या लाभे पालने च' अर्थात् — पृथ्वी की उपलब्धि (अर्जन) और उसके पालन (संवर्धन एवं संरक्षण) के लिए जो विज्ञान है, वही अर्थशास्त्र है।

अर्थात् वैदिक अर्थशास्त्र केवल उत्पादन, वितरण और उपभोग की व्यवस्था नहीं, बल्कि शासन, समाज और लोककल्याण की समन्वित नीति है।

इतिहास में अनेक मतों ने धन को अनर्थ का कारण बताया है। कुछ पाश्चात्य विचारकों ने धन की निंदा करते हुए यह तक कहा कि 'अर्थविद्या शैतान का उपदेश है', जबकि कुछ अन्य ने इसे भौतिक प्रलोभन का स्रोत माना। परंतु वैदिक व्यवस्था में धन की उपादेयता को न केवल स्वीकार किया गया है, बल्कि उसे पुरुषार्थ चतुष्टय — धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में अर्थ के रूप में सम्मिलित कर जीवन का एक अनिवार्य तत्व माना गया है।

वेदों में अनेक स्थलों पर धन, ऐश्वयज़, रयि (सम्पत्ति) और वसु (संपन्नता) की प्राप्ति के लिए प्रार्थनाएँ की गई हैं —

'वयं स्याम पतयो रयीणाम्' — यजुर्वेद 10.20

'स नो वसून्याभर।' — यजुर्वेद 15.3

'अग्ने नय सुपथा राये।' — यजुर्वेद 7.43

इन मंत्रों में रयि, वसु, श्री आदि शब्दों से धन, ऐश्वर्य और समृद्धि का बोध होता है। इससे स्पष्ट है कि वेद धन को त्याज्य नहीं, बल्कि उपादेय अर्थात् उपयोगी और वांछनीय मानते हैं।

वैदिक दृष्टि में अर्थ न तो अनर्थकारी है, न ही मोक्ष का विरोधी। जब धन धर्मसंगत हो और उसका उपयोग लोकहित तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिए किया जाए, तभी वह सच्चे अर्थ में अर्थ कहलाता है। इसी दृष्टि से वैदिक अर्थव्यवस्था का विचार करना आज भी अत्यंत उपादेय और प्रासंगिक है।

अर्थ व्यवस्था का आधार वर्ण व्यवस्था :- वैदिक मान्यताओं के अनुसार समग्र सामाजिक व्यवस्था का आधार वर्णाश्रम व्यवस्था है। यह व्यवस्था जन्म से नहीं, बल्कि गुण और कर्म पर आधारित है, जैसा कि भगवद्गीता (4.13) में कहा गया है —

'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।'

अर्थव्यवस्था का भी यही सिद्धांत लागू होता है। जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय अपने गुणकर्म से मान्य हैं, वैसे ही वैश्य, जो आर्थिक क्रिया-कलापों का मेरुदण्ड है, भी जन्म से नहीं, गुणकर्म से ही स्वीकृत है।

आज की विकृत सामाजिक व्यवस्था ने अर्थ को केवल वंशानुगत अधिकार का विषय बना दिया है। व्यक्ति अपनी आर्थिक उपलब्धियों को पुत्र को ही सौंपना चाहता है, चाहे वह अयोग्य ही क्यों न हो। यह वैदिक दृष्टि से अनुचित है।

आर्थिक साधन दो प्रकार के हैं —

1. उपभोग द्रव्य — जैसे भोजन, वस्त्र, निवास आदि।

2. उत्पादन द्रव्य (पूँजी) — जैसे भूमि, खनिज, उपकरण आदि।

उपभोग द्रव्य सन्तानों को दिए जा सकते हैं, किन्तु उत्पादन द्रव्यों पर व्यक्ति का अधिकार सीमित और सशर्त है, क्योंकि वे समाज और राष्ट्र की सामूहिक संपत्ति हैं। कौटिल्य ने भी भूमि और खनिज जैसे साधनों को राजस्व के रूप में राज्याधीन माना है।

अतः वैदिक अर्थव्यवस्था का आधार केवल धन-संपादन नहीं, बल्कि गुणकर्म आधारित न्यायपूर्ण वितरण और सामाजिक उत्तरदायित्व पर टिका है।

श्रुति व्यवस्था तथा स्मृति व्यवस्था - वैदिक परंपरा में प्रत्येक सामाजिक और

आर्थिक व्यवस्था के दो स्वरूप माने गए हैं — श्रुति सम्मत और स्मृति सम्मत।

श्रुति व्यवस्था वेदों में प्रतिपादित होती है, इसलिए इसे देश, काल, समाज और व्यक्ति की सीमाओं से परे, सार्वभौमिक और शाश्वत माना गया है। यह ईश्वरीय व्यवस्था है, जो सभी युगों और समाजों पर समान रूप से लागू होती है। उदाहरणत: —

'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं बिन्दते पतिम्।'

इस श्रुति के अनुसार युवती कन्या का विवाह युवा पुरुष से होना चाहिए। यह सिद्धांत सर्वत्र मान्य है और किसी विशेष परिस्थिति पर निर्भर नहीं करता।

इसके विपरीत, स्मृति व्यवस्था समाज की आवश्यकताओं और समय की परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तनीय होती है। स्मृति ग्रंथों में दी गई व्यवस्थाएँ स्थायी नहीं, बल्कि देश-काल-सामाजिक परिस्थितियों के अनुसार संशोधित की जा सकती हैं। जैसे — 'ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम्।'

यह विवाह की आयु सम्बन्धी व्यवस्था देश या काल के अनुसार भिन्न हो सकती है, अत: इसे स्मार्त व्यवस्था कहा गया है।

इसी प्रकार अर्थव्यवस्था का भी श्रौत (वैदिक) और स्मार्त (परिवर्तनीय) रूप होता है। श्रौत अर्थव्यवस्था वेदों द्वारा प्रतिपादित शाश्वत सिद्धांतों पर आधारित होती है, जो किसी देश या काल के अनुसार बदलती नहीं। उदाहरणत: —

'अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित कृषस्व।' (ऋग्वेद 10.34.13)

अर्थात् — 'जुआ मत खेलो, कृषि करो।' यह वैदिक व्यवस्था सार्वकालिक है और श्रम, उत्पादन तथा नैतिक आचरण की प्रेरणा देती है।

वैदिक दृष्टि में अर्थव्यवस्था केवल धनार्जन की व्यवस्था नहीं, बल्कि धर्म और लोककल्याण पर आधारित जीवन प्रणाली है। इसमें समाज की स्थिरता, न्याय और नैतिकता को प्रमुख स्थान दिया गया है।

अर्थव्यवस्था के प्रमुख आधार माने गए हैं —

(1) सम्पन्नता — भौतिक एवं नैतिक विकास का संतुलन।

(2) उत्पादन — कृषि, उद्योग और व्यापार द्वारा संसाधनों की सृष्टि।

(3) विनिमय — वस्तुओं का न्यायसंगत आदान-प्रदान।

(4) वितरण — संपत्ति का समान और धर्मसंगत वितरण।

(5) रोजगारी — प्रत्येक व्यक्ति को कार्य और आजीविका का अवसर।

इस प्रकार, श्रुति और स्मृति व्यवस्था का समन्वय वैदिक अर्थचिंतन का मूल आधार है, जो भौतिक सम्पन्नता के साथ-साथ आध्यात्मिक उन्नति का भी मार्ग प्रशस्त करता है।

सम्पन्नता - वेदों में सम्पन्नता को मानव जीवन का आवश्यक और शुभ तत्व

माना गया है। वैदिक चिंतन के अनुसार सम्पन्नता केवल धन-संपत्ति का संचय नहीं, बल्कि धर्मसंगत, श्रम-साध्य और लोककल्याणकारी साधनों से प्राप्त सुख-सुविधाओं का प्रतीक है। वैदिक अर्थव्यवस्था में सम्पन्नता का उद्देश्य व्यक्तिगत विलास नहीं, बल्कि समाज की समग्र उन्नति है।

वेदों में अनेक स्थानों पर सम्पन्नता के लिए प्रार्थनाएँ की गई हैं। उदाहरणार्थ—

उभा हि हस्ता वसुना पृणस्व। (ऋग्वेद 1.31.17)

हे परमेश्वर! हमारे दोनों हाथों को धन और वैभव से पूर्ण कर दो। यह मंत्र इस बात का द्योतक है कि मनुष्य अपने कर्म और पुरुषार्थ से समृद्धि प्राप्त करे।

वसोर्दाता वस्वदात। (यजुर्वेद 5.19)

हे वसुदाता परमेश्वर! हमें धन प्रदान करें। यहाँ वसु शब्द केवल धन का नहीं, बल्कि संपूर्ण समृद्धि — जैसे अन्न, बल, विद्या, संतोष और सद्‌गुण का द्योतक है।

वैदिक दृष्टि में वसु का अर्थ 'जो सबको वास देता है' या 'जिससे जीवन का पोषण होता है' भी है। इस प्रकार सम्पन्नता का आशय केवल भौतिक नहीं, बल्कि आध्यात्मिक और नैतिक सम्पन्नता से भी है। अर्थात्, वैदिक अर्थव्यवस्था में सम्पन्नता का लक्ष्य ऐसा जीवन निर्माण करना है, जिसमें व्यक्ति, समाज और राष्ट्र तीनों का विकास धर्म, न्याय और सदाचार के अनुरूप हो।

कृषि उत्पादन - वैदिक अर्थव्यवस्था में कृषि को उत्पादन का मूल और आधारभूत स्तंभ माना गया है। वेदों में अन्न, फल, मूल और वनस्पतियों का अत्यंत महत्त्वपूर्ण उल्लेख मिलता है। यह इस बात का प्रमाण है कि वैदिक समाज कृषि को न केवल आजीविका का साधन, बल्कि धर्म और जीवन के संतुलन का आधार मानता था।

वेदों में कृषि विद्या भले ही बीज रूप में विद्यमान हो, परंतु उसमें कृषि विज्ञान के अनेक अद्‌भुत संकेत निहित हैं। उदाहरणार्थ— भूमि की उर्वरता, ऋतुचक्र का ज्ञान, सिंचाई, बीजों का चयन और उत्पादन की पवित्रता— ये सब वेदकालीन कृषिज्ञान के अंग थे।

आज का कृषि विज्ञान उत्पादन की मात्रा पर केंद्रित है, जबकि वेदिक कृषि का लक्ष्य गुणात्मक और सात्त्विक उत्पादन था। आधुनिक 'हरित क्रांति' और 'हरिततर क्रांति' ने उत्पादन तो बढ़ाया, परंतु अन्न के आध्यात्मिक, नैतिक और स्वास्थ्यवर्धक पक्षों की उपेक्षा की।

वेदों के अनुसार अन्न केवल शरीर का पोषण नहीं करता, बल्कि मन, चरित्र और आत्मा को भी प्रभावित करता है। अत: वैदिक दृष्टि से कृषि केवल अर्थोपार्जन का साधन नहीं, बल्कि धार्मिक, सामाजिक और आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग है।

इस प्रकार, वैदिक कृषि व्यवस्था का उद्देश्य मात्र अधिक उत्पादन नहीं, बल्कि

शुद्ध, सात्त्विक और जीवनोपयोगी अन्न का उत्पादन था, जो व्यक्ति और समाज दोनों को समृद्ध एवं सशक्त बनाता है।

वैदिक कृषि में अन्न उत्पादन को केवल भौतिक दृष्टि से नही, बल्कि यज्ञ, मन्त्र और आध्यात्मिकता के संदर्भ में भी देखा गया है। वेदों में अन्न के उत्पादन के लिए मंत्रों का प्रयोग किया गया है, जैसे —

'यज्ञेन कल्पन्ताम।'

इसका आशय है कि अन्न की उत्पत्ति और वृद्धि में यज्ञ और हवन का महत्व है। केवल बीज बोना ही पर्याप्त नहीं; उसका उत्पादन, स्वास्थ्य और गुण यज्ञ और मन्त्रों द्वारा संचालित क्रिया से प्रभावित होता है।

वेदों में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि कृषि विज्ञान केवल मात्रात्मक उत्पादन का विषय नहीं, बल्कि *गुणात्मक उत्पादन, पौधे की सात्त्विक उन्नति और आध्यात्मिक उपयोगिता भी ध्यान में रखनी चाहिए। उदाहरणत:—

'सुसस्य: कृषीस्कृधि।' — यजुर्वेद 4.10

'कृषिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।' — यजुर्वेद 189

वेद में कई मंत्र ऐसे हैं जो बीज, हल (सीता), खाद और अन्य तत्वों को घृत, मधु या पवित्र पदार्थों से युक्त करने की विधि बताते हैं। उदाहरण —

''घृतेन सीता मधुना समज्यततां विश्वेदैबैरनुमता मरुद्भिः। ऊजस्वती पयसा पिन्वमाना स्मान्त्सीते पयसाऽभ्यावतृत्स्व।'' — यजुर्वेद 12.70

इन मंत्रों का अर्थ है कि हल की कूड़ में घी और मधु डालकर उसे युक्त करना चाहिए, जैसे विश्व देव, मरुत आदि की अनुमति से अन्न और उत्पादन को पूर्ण किया जाए। यहाँ मरुत् शब्द का प्रयोग विशेष है, जो शक्ति, गति और प्रकृति के तत्वों का प्रतिनिधित्व करता है।

वेद की यह बीज-विद्या उत्पादन की गुणवत्ता, पौधों की वृद्धि और अन्न की सात्त्विकता सुनिश्चित करती है। आज भी कृषि वैज्ञानिकों के लिए यह मार्गदर्शन है कि भूमि, बीज, खाद और मौसम के अनुसार उत्पादन की गुणवत्ता सुनिश्चित की जाए।

श्री स्वामी दयानन्द जी ने भी वैश्य वर्ग के लिए स्पष्ट किया कि ''भूमि, बीज आदि के गुण जानना और खाद तथा भूमि की परीक्षा करना आवश्यक है।''

मनु स्मृति में भी उल्लेख है — 'द्वजातीनामभक्ष्याणि-अमेध्य प्रभवाणि च।' यह हमें याद दिलाता है कि अन्न और खाद्य पदार्थ केवल भौतिक नहीं, बल्कि पवित्र, सात्त्विक और आध्यात्मिक मूल्य वाले होने चाहिए।

अत: वैदिक कृषि विज्ञान केवल उत्पादन बढ़ाने का साधन नहीं, बल्कि चरित्र, आध्यात्म और मानव जीवन के संतुलन के लिए एक मार्गदर्शक प्रणाली है।

विनिमय – वैदिक अर्थव्यवस्था में विनिमय का महत्त्व अत्यंत स्पष्ट है। विनिमय केवल वस्तु–बदलाव नहीं, बल्कि समाज और व्यक्ति के बीच धन, श्रम और संसाधनों के न्यायसंगत आदान–प्रदान का माध्यम है। वेदों में इस विषय पर अनेक मंत्र मिलते हैं, जो व्यापार और क्रय–विक्रय की नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टि को स्पष्ट करते हैं।

अथर्ववेद, तृतीय काण्ड, 15वाँ सूक्त इस दृष्टि में विशेष महत्व रखता है। इसमें प्रथम मंत्र में कहा गया है —

इद्रमहं वणिजं चोदयामि स न एतु पुर एता नो अस्तु। (अथवज़्वेद 3.15.1)

अर्थात् — ऐश्वर्यदाता इन्द्र से प्रार्थना कि वे अग्रगामी बनें और व्यापार में सफलता दें।

दूसरे मंत्र में क्रय–विक्रय के माध्यम से धन प्राप्ति का उल्लेख है —

'ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावा पृथिवी संचरन्ति। ते मा जुषन्तां पयसा घृतेन यथा क्रीत्वा धनमाहराणि।' (अथर्ववेद 3.15.2)

यहाँ 'क्रीत्वा धनमाहराणि' पाठ व्यापार और विनिमय के नियमों का संकेत देता है। हालांकि क्रय–विक्रय के विवरण, मूल्य निधाज़्रण और स्थानीय परिस्थितियाँ स्मृति और नीति ग्रंथों में सापेक्ष्य हैं, क्योंकि ये देश, काल और समाज के अनुसार बदलते रहते हैं।

एक और मंत्र विनिमय में धन की भूमिका पर प्रकाश डालता है —

'येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवाधनमिच्छमानः। तन्मे भूयो भवतु मा कनीयः।' (अथर्ववेद 3.15.4)

अर्थात् धन के माध्यम से विनिमय करता हूँ; धन से देवाधन की प्राप्ति चाहता हूँ। यहाँ धन को विनिमय का साधन और उत्पादनशीलता का प्रतीक माना गया है। साथ ही, यह प्रार्थना है कि धन पूर्ण और पर्याप्त रहे, कम न हो।

इस प्रकार, वैदिक दृष्टि में विनिमय केवल आथिज़्क क्रिया नहीं, बल्कि सामाजिक और आध्यात्मिक दायित्व का भी साधन है। धन का आदान–प्रदान नैतिकता, न्याय और उत्पादनशीलता पर आधारित होना चाहिए, ताकि समाज और व्यक्तियों की समृद्धि सुनिश्चित हो।

विनिमय का माध्यम :

वैदिक दृष्टि में धन केवल धन के लिए नहीं, बल्कि उत्पादन और विनिमय की साधना के लिए है। धन का वास्तविक उद्देश्य समाज और व्यक्तियों के कल्याण में योगदान देना है।

एक मंत्र में कहा गया है — 'विक्रयश्च प्रतिपणःफलिनं मा कृणोतु।'

अर्थात् प्रत्येक विक्रीत वस्तु में केवल व्यक्तिगत लाभ की इच्छा न रखें; लाभ के

साथ नैतिकता और न्याय का पालन आवश्यक है।

इसके साथ ही, वैदिक दृष्टि में लाभ को हव्य (पवित्र अर्पण) के रूप में ग्रहण करने का निर्देश भी है —

'हव्यं जुषेयाम्, नो अस्तु चरितमुत्थतं च।'

इसका अर्थ है कि लाभ का उपयोग अपने चरित्र, कर्म और आध्यात्मिक उन्नति के लिए करें। धन का उपयोग केवल भौतिक सुख के लिए न हो, बल्कि उसे सात्त्विक और कल्याणकारी रूप में ग्रहण किया जाए।

इस प्रकार, वैदिक अर्थव्यवस्था में धन विनिमय का माध्यम, उत्पादन का सहयोग और समाज कल्याण का साधन है। यह विचार धन को केवल स्वार्थ के लिए नहीं, बल्कि सम्पूर्ण पुरुषार्थ चतुष्टय में योगदान देने के लिए उपयोग करने की ओर उन्मुख करता है।

वितरण – वैदिक अर्थव्यवस्था में वितरण का महत्त्व स्पष्ट है। वितरण केवल व्यक्तिगत लाभ का विषय नहीं, बल्कि उत्पादन और श्रम के अनुसार न्यायसंगत अंश देने का साधन है।

यजुर्वेद 30.4 में कहा गया है — 'विभक्तारं हवामहे वसोश्चित्रस्य राधसः'

अर्थात् विभाजन कायानजुसार और धर्मसंगत रूप से होना चाहिए, व्यक्तिगत स्वाथज़ के लिए नहीं।

ऋग्वेद 10 मण्डल में भी उल्लेख है — 'श्रमस्य दायं विभजन्ति येभ्यः'

अर्थात् श्रमिकों को उनके श्रम के अनुसार उनका उचित अंश दिया जाए।

वेद में यह भी स्पष्ट है कि धन और श्रम दोनों का न्यायसंगत वितरण आवश्यक है। राजा का अधिकार है कि वह कर और संसाधनों का वितरण सुनिश्चित करे —

'यद् राजानोविभजन्त इष्टा पूतस्य षोडशं यमस्याभी सभासदः' (अथर्ववेद 3.29.1)

वैदिक दृष्टि में वितरण का उद्देश्य – उत्पादन और श्रम का न्यायसंगत वितरण, शोषण से बचाव, समाज और व्यक्ति की समग्र समृद्धि सुनिश्चित करना।

यह व्यवस्था केवल व्यक्तिगत लाभ के लिए नहीं, बल्कि धर्म और सामाजिक न्याय के अनुरूप है।

उपभोग की समानता – वैदिक अर्थव्यवस्था में उपभोग की समानता को अत्यंत महत्त्वपूर्ण माना गया है। वेद मानव मात्र में समानता की भावना का उपदेश देते हैं — न कोई ज्येष्ठ, न कनिष्ठ (अज्येष्ठासः अकनिष्ठासः)।

अथर्ववेद 3.30.6 में कहा गया है — 'समानी प्रपा सहवोऽन्न भागः समाने, योक्त्रे सह वो युनजिम, सम्यश्चोऽग्नि सपयता रा नाभिमिवातभितः'।

इस मंत्र का आशय है:

'समानी प्रपा सहवोऽन्न भाग:' — सभी का खान-पान और उपभोग समान होना चाहिए।

अन्न, खाद्य और अन्य आवश्यक संसाधनों का वितरण समान रूप से होना चाहिए।

स्वामी दयानन्द जी ने भी गुरुकुलों में समान खान-पान, वस्त्र और रहन-सहन की व्यवस्था अपनाई, जिससे सभी विद्यार्थियों को समान अवसर और सुविधा मिले।

इस प्रकार, वैदिक दृष्टि में उपभोग की समानता —

1.सभी मनुष्यों में समान अधिकार सुनिश्चित करना,

2. धन और संसाधनों के संतुलित और न्यायसंगत वितरण को बढ़ावा देना,

3. सामाजिक साम्यता और सहयोग की भावना को प्रोत्साहित करना।

यह सिद्धांत आज के सामाजिक और आर्थिक समानता के विचारों के लिए भी प्रेरणादायक है।

नियोजन : रोजगारी का अधिकार :

वैदिक अर्थव्यवस्था में रोजगारी और कार्य का न्यायसंगत नियोजन स्पष्ट रूप से प्रतिपादित है। वेद में कहा गया है कि कायज् (कार्य) में मनुष्य को समान रूप से नियुक्त किया जाए —

'समाने योक्त्रे सहवो युनज्मि।' अर्थात् समान योक्त्र में समान भाव से कायज़ सौंपा जाए।

योक्त्र का अर्थ केवल बैल या घोड़े जोड़े जाने वाली रस्सी नहीं है; यह उस कार्य या दायित्व का प्रतीक भी है जिसमें मनुष्य युक्त-नियुक्त किया जाता है। व्याकरणिक दृष्टि से युजिर-योगे से ही योक्त्र शब्द उत्पन्न होता है।

साथ ही, कार्य का उद्देश्य अग्नि के रूप में बताया गया है — 'सम्यञ्च: अग्निं सपर्यत।'

अर्थात् सभी मिलकर समान रूप से उस कार्य और उद्देश्य की उपासना करें। यहाँ अग्नि शब्द केवल यज्ञ के लिए नहीं, बल्कि सामूहिक लक्ष्य और उद्देश्य का प्रतीक है।

अथर्ववेद में वर्णित शब्द जैसे — सध्रीचीना:, संराधयन्त:, सधुरा: चरन्त:

यह दर्शाते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्म और दायित्व में समान रूप से सक्रिय रहे और सामूहिक प्रयास के माध्यम से उद्देश्य की प्राप्ति हो।

श्री वीरसेनजी के अनुसार — ''कुछ उद्योग केवल व्यक्तिगत, कुछ व्यक्तिगत एवं सामूहिक, कुछ सामूहिक एवं राज्याश्रित, और कुछ केवल राज्याश्रित हैं। अत: समाज और राष्ट्र को उद्योगों की रक्षा, वृद्धि और कुशल व्यक्तियों की शिक्षा-दीक्षा सुनिश्चित

करनी चाहिए।''

वैदिक अथज़्व्यवस्था के सम्बन्ध में निश्चित रूप से एक समन्वित व्यवस्था की गवेषणा- अनुसंधान - स्पष्टीकरण आदि बहुत आवश्यक है । आज संसार में प्रचलित अथज़् व्यवस्था अपने पूंजीवादी स्वरूप, साम्यवादी स्वरूप में और दोनों के मिश्रित रूप में भी बहुत उन्नत विस्तृत एवं सफल सिद्ध हो रही है । आज जनकल्याण की नीतियां, श्रम पूँजी के सम्बन्ध, अन्तराज़्ट्रीय व्यापार, सभी पयाज़्प्त उन्नत हैं । इसी के साथ अद्यतन विज्ञान की उन्नति, प्रयुक्ति विद्या का विस्तार पयाज़्प्त सन्तोष जनक है। इसी के साथ इन सबका सहयोग पूर्ण संबंधित रूप मानव समाज की अच्छी प्रशंसनीय सेवा कर रहा है। मनुष्य की आयु बढ़ गई है, मृत्यु दर घट गई है। सम्पन्नता समृद्धि निकट ज्ञात इतिहास में अप्रतिम रूप से उन्नत हुई है। किन्तु चरित्र, सदाचार, अध्यात्म आदि की उपेक्षा कृछ कम चिन्ता का विषय नहीं है।

भगवान राम के राज्य के वर्णन में एक प्रसंग आता है-

पहष्ट मुदितो लोकस्तुष्टः पुष्टः सुधार्मिकः।
निरामयो ह्यरोगश्च दुर्भिक्षभय वर्जितः।।
न पुत्र मरणं केचिद् द्रक्ष्यिन्ति पुरुषाः क्वचित्।
नार्यश्चाविधवा नित्यं भविष्यन्ति पतिव्रताः।।
न चाग्निजं भयं किंचिन्नाप्सु भज्जन्ति जन्तवः।
न वातजं भयं किचिन्नापि ज्वर कृतं तथा।।
न चापि क्षुद्भयं तत्र न तस्कर भयं तथा।
नगराणि च राष्ट्राणि धनधान्य युतानि च।। बा.रा.वा. -90-93

आज के विश्व की बहुविधि उपलब्धियों के परिप्रेक्ष्य में यह वर्णन गपोड़ा नहीं अपितु सत्य उद्भासित होने लगा है। आज का उन्नततम राष्ट्र भी इन उपलब्धियों का दावा नहीं कर पा रहा है। हो सकता है कि आगामी 25-50 वर्षों के पश्चात् इस वर्णन का भौतिक पक्ष, शुद्ध समृद्धि पक्ष प्रत्यक्ष आँखों के सामने उतर आये। फिर भी इसका चारित्रिक एवं अध्यात्म पक्ष तो सामने नहीं आता। अतः इस संदर्भ में उस व्यवस्था का अन्वेषण करना हम सबका कर्त्तव्य है जिसकी फलश्रुति राम राज्य की उपलब्धि के रूप में अद्यतन चिन्तनशील व्यक्ति को अपनी विशेषता के कारण आकृष्ट कर रही है। इस दृष्टि से भी वैदिक अर्थव्यवस्था पर अन्वेषण, चिन्तन-मनन, क्रियान्वयन संसार के कल्याण के लिए अति आवश्यक है।

वैदिक अर्थव्यवस्था केवल धन और उत्पादन तक सीमित नहीं थी; यह समग्र मानव विकास—संपन्नता, चरित्र, सदाचार और आध्यात्मिकता—पर आधारित थी। इसके अध्ययन, अनुसंधान और व्याख्या की आवश्यकता आज भी उतनी ही प्रासंगिक

है।

आज संसार में अर्थव्यवस्था के विभिन्न स्वरूप—पूंजीवादी, साम्यवादी और मिश्रित—व्यापक रूप से विकसित और प्रभावी सिद्ध हो चुके हैं। जनकल्याण, श्रम-पूँजी संबंध, अंतर्राष्ट्रीय व्यापार और तकनीकी उन्नति के क्षेत्र में मानवीय जीवन स्तर में अभूतपूर्व सुधार हुआ है—आयु बढ़ी, मृत्यु दर घटा, समृद्धि और सुविधा की उपलब्धि अत्यधिक बढ़ी।

किन्तु, चरित्र, नैतिकता और आध्यात्मिकता की उपेक्षा आज भी चिंतनीय है। यहाँ वैदिक दृष्टि हमें याद दिलाती है कि समृद्धि केवल भौतिक नहीं, बल्कि मानवीय और आध्यात्मिक गुणों से संतुलित होनी चाहिए।

भगवान राम के राज्य का वर्णन इस दृष्टि का आदर्श प्रस्तुत करता है:

पहष्ट मुदितो लोकस्तुष्टः पुष्टः सुधार्मिकः। निरामयो ह्यरोगश्च दुर्भिक्षभय वर्जितः।।

न पुत्र मरणं केचिद् द्रक्ष्यिन्ति पुरुषाः क्वचित्। नार्यश्चाविधवा नित्यं भविष्यन्ति पतिव्रताः।।

न चाग्निजं भयं किंचिन्नाप्सु भज्जन्ति जन्तवः। न वातजं भयं किचिन्नापि ज्वर कृतं तथा।।

न चापि क्षुद्भयं तत्र न तस्कर भयं तथा। नगराणि च राष्ट्राणि धनधान्य युतानि च।। (बालरामायण 90-93)

इसमें -

* जनता सुखी, स्वस्थ और भय-मुक्त है।
* आर्थिक समृद्धि और संसाधन पर्याप्त हैं।
* चारित्रिक और आध्यात्मिक मूल्य सर्वोपरि हैं।

आज का उन्नततम राष्ट्र भी इन आदर्शों का पूर्ण भौतिक या चारित्रिक पालन नहीं कर पा रहा है। राम राज्य का यह आदर्श हमें वैदिक अर्थव्यवस्था के चरित्र और आध्यात्मिक पक्ष के अध्ययन और अनुसंधान की ओर प्रेरित करता है।

सारतः वैदिक अर्थव्यवस्था का अध्ययन, चिन्तन और क्रियान्वयन केवल ऐतिहासिक या शैक्षिक कारणों से नहीं, बल्कि संपूर्ण समाज और मानव जाति के कल्याण के लिए आवश्यक है। यह हमें भौतिक सम्पन्नता और आध्यात्मिक समृद्धि का संतुलित दृष्टिकोण प्रदान करता है।

❑❑❑